वर्ष-1 । अंक-1
जनवरी-मार्च, 2026
₹ 100

लोक रंग

सामाजिक एवं सांस्कृतिक विमर्श की त्रैमासिक पत्रिका

लोक रंग

पंजीयन संख्या : UPHIN/26/A0198

सामाजिक एवं सांस्कृतिक विमर्श की त्रैमासिक पत्रिका

परामर्शदात्री समिति :

प्रो.सूर्य प्रसाद दीक्षित
पद्मश्री डॉ.विद्या विन्दु सिंह
विजय त्रिपाठी
जीतेश श्रीवास्तव
सरिता अग्रवाल
सतीशचन्द्र मिश्र
सत्यप्रकाश गुलहरे
डॉ.अजय गुप्ता
डॉ.अनिल कुमार गुप्ता
डॉ.प्रमोद कुमार गंगवार
शिव कुमार सोनी

समीक्षा मण्डल :

डा.रामबहादुर मिश्र
प्रो.अजीत प्रियदर्शी
डॉ.बलजीत श्रीवास्तव
डॉ.राम प्रताप यादव
डॉ.करुणा पाण्डे
डॉ.संगीता शुक्ला
डॉ.अपूर्वा अवस्थी
डॉ.राकेश ऋषभ
डॉ.हरनाम सिंह
डॉ.संदीप सिंह
डॉ.के.के.पाठक

सम्पादक

डॉ.एस.के.गोपाल

उप सम्पादक

अर्चना गुप्ता
डॉ.सुधा द्विवेदी

प्रबन्ध सम्पादक

आशीष कुमार गुप्ता
सुनील कुमार अग्रवाल

सम्पादनेत्तर सहयोग :

अजित पाल, नैमिष कुमार
शैलेन्द्र मौर्य, दीपू रावत
जादूगर सुरेश कुमार
होमेन्द्र कुमार मिश्र

प्रकाशन सहयोग :

लोक संस्कृति शोध संस्थान
उत्तर प्रदेश

सम्पादकीय सम्पर्क :

8765919255, 9451532641

वेब. : lokrangpatrika.in

ईमेल : lokrang2026@gmail.com

- लेखकों के विचारों से प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं है। सम्पादकीय एवं लेखों में दिये गये तथ्यों व सन्दर्भों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं। समस्त विवाद लखनऊ न्यायालय के अधीन होंगे।

- स्वत्वाधिकारी एवं प्रकाशक शशि कान्त द्विवेदी, मुद्रक अरुण कुमार जग्गी द्वारा प्रिन्टआर्ट आफ़सेट, 33, कैण्ट रोड, नियर ओडियन सिनेमा, लखनऊ से मुद्रित कराकर प्रथम तल, कैपिटल सिनेमा बिल्डिंग, हजरतगंज, लखनऊ, उत्तर प्रदेश–226001 से प्रकाशित। सम्पादक–शशि कान्त द्विवेदी।

लोक रंग

पंजीयन संख्या : UPHIN/26/A0198

सामाजिक एवं सांस्कृतिक विमर्श की त्रैमासिक पत्रिका

❑ वर्ष–1, अंक–1 ❑ जनवरी–मार्च, 2026 ❑ मूल्य : रु. 100/–

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय :

लोक जीवन के रंग और माटी की महक / डॉ.एस.के.गोपाल / 3

लोक जीवन, संस्कृति और बदलता समाज :

जनपदीय भाषाओं की वाचिक परम्परा / डॉ. विद्या विन्दु सिंह / 7 ● लोक जीवन की तस्वीर / डॉ.स्मृति त्रिपाठी / 9 ● लोक संस्कृति का क्षरण या पुनर्सृजन / डॉ.सुधा द्विवेदी / 11 ● भाषा, बोली और पहचान का प्रश्न / सियाराम पाण्डेय 'शान्त' / 13 ● गांव से शहर तक / सौरभ कुमार कमल / 15

शोध खण्ड :

डिजिटल युग में लोक संस्कृति / विजयलक्ष्मी / 17 ● सांस्कृतिक निरंतरता और परिवर्तन / मीनू पाण्डेय / 21 ● लोक साहित्य का दस्तावेजीकरण / अनुप शर्मा / 25 ● स्थानीय भाषाएँ और सांस्कृतिक अस्मिता / मीनाक्षी तिवारी / 29

सांस्कृतिक विमर्श :

लोक उत्सवों का बदलता स्वरूप / नीरज तिवारी / 33 ● गांव, स्मृति और सांस्कृतिक पहचान / सौरभ पाण्डेय 'शौर्य' / 36

सामाजिक विमर्श :

बदलते समाज में संबंधों की प्रकृति / शिवकुमार सोनी / 39 ● एकाकी समाज का उदय / रविशंकर गुप्त 'रवि / 42

रचनात्मक साहित्य

कहानी / अस्तित्व / डॉ.अमिता दुबे / 45 ● वचनबद्ध प्रेम / अर्चना गुप्ता / 50 ● गांव की फुसफुसाहट / डॉ. के.के.पाठक / 53 ● नाटक / बदलता आंगन / डॉ.एस.के.गोपाल / 57 ● कविताएँ : विजय प्रसाद त्रिपाठी / 67 ● इं. सुनील कुमार वाजपेयी / 68 ● डॉ. उषा बनर्जी / 69 ● संगीत सुभाष / 70 ● प्रो. उषा बाजपेई / 71 ●डॉ. करुणा पाण्डे / 72 ● सौरभ पाण्डेय 'शौर्य' / 73

पुस्तक समीक्षा

समझावनपुर : एक अवलोकन / डॉ. ओम प्रकाश यादव / 75

साक्षात्कार

लोक, शास्त्र और शिक्षण / संगीताचार्य डॉ. अर्चना श्रीवास्तव से शम्भूशरण वर्मा की बातचीत / 79

धरोहर :

दादी–नानी की कहानी में मामा–फूफा और लोहे की कथा / 83

सिनेमा के झरोखे से :

किशोर जब पैदा हुए तो रोए नहीं / जीतेश श्रीवास्तव / 85

यत्र–तत्र के रंग / 87

सम्पादकीय :

लोक जीवन के रंग और माटी की महक

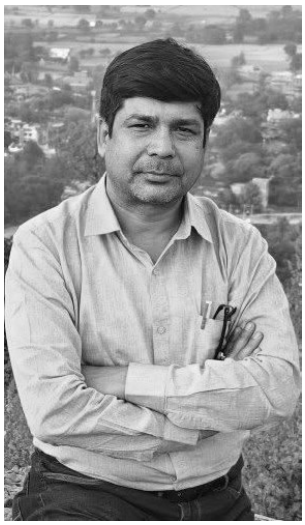

माटी की स्मृतियों, लोक जीवन की संवेदनाओं और संस्कृति की अनंत संभावनाओं के साथ "लोक रंग" की यह यात्रा आरंभ हो रही है। आइये साथ चलें...

भोजपुरी फिल्म "गंगा किनारे मोरा गांव" के एक मार्मिक गीत की पंक्तियाँ स्मृति में गूंज उठती हैं– "गंगा किनारे मोरा गांव हो, घरे पहुंचा दऽ देवी मइया..."। इस गीत में एक छोटा सा बालक अपनों से बिछुड़ गया है और देवी मां से विनती करता है कि उसे उसके घर पहुँचा दें। उस घर तक, जो गंगा के किनारे बसे उसके गांव में है, जहाँ आंगन में आम के पेड़ की छाया पड़ती है और जहाँ उसकी स्मृतियों का संसार बसता है। यह दृश्य केवल किसी एक गांव या एक बच्चे की व्यथा नहीं, अपितु उस गहरे लोकभाव का प्रतीक है जिसमें मनुष्य अपनी माटी, अपने घर और अपनी जड़ों से आत्मीय रिश्ता महसूस करता है। यह केवल किसी गांव का वर्णन नहीं, अपितु उस पूरे लोक संसार का संकेत है जहाँ जीवन प्रकृति की लय के साथ चलता है और जहाँ माटी की गंध ही संस्कृति की पहली पहचान बन जाती है।

मनुष्य का जीवन सचमुच रंगों की एक विराट पोटली है। इसमें भक्ति का रंग है, प्रेम का रंग है, लोक जीवन की सहजता के रंग हैं और कभी–कभी छल–प्रपंच के रंग भी दिखाई देते हैं। संसार को देखने–समझने का अनुभव भी मानो रंगों की ही यात्रा है। हम जीवन भर अनेक रंग देखते हैं, अनेक रूपों से परिचित होते हैं, पर अंततः अनुभव यही सिखाता है– "जमाने के देखे हैं रंग हजार, नहीं कुछ सिवा प्यार के।" प्रेम का रंग ही वह रंग है जो सबसे स्थायी, सबसे सच्चा और सबसे मानवीय है। यही वह रंग है जो भिन्नताओं को मिटाकर मनुष्य को मनुष्य से जोड़ता है और जीवन को अर्थ देता है।

भारतीय सांस्कृतिक चेतना में रंगों का यह संसार सबसे अधिक जीवंत रूप में लोक जीवन में दिखाई देता है। लोक केवल गांवों का भौगोलिक विस्तार नहीं, अपितु वह जीवन–दृष्टि है जिसमें प्रकृति, समाज और मनुष्य के बीच गहरा आत्मीय संबंध दिखाई देता है। खेतों की मेड़ों से उठती मिट्टी की सोंधी गंध,

ऋतुओं के साथ बदलते जीवन के स्वर और पर्व–त्योहारों की सामूहिक परंपराएँ, ये सब मिलकर उस लोक संसार का निर्माण करती हैं जिसने सदियों से भारतीय संस्कृति की जड़ों को सींचा है।

भारतीय सभ्यता की दीर्घ यात्रा में लोक जीवन की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। यहाँ की संस्कृति केवल राजमहलों और ग्रंथों में ही नहीं, अपितु खेतों, आंगनों, चौपालों और जनजीवन की स्मृतियों में भी सुरक्षित रही है। किसान जब खेत में हल चलाता है तो उसके साथ कोई लोकगीत भी जन्म लेता है। ऋतुओं का परिवर्तन केवल मौसम का नहीं, अपितु जीवन के उत्सव का संकेत होता है। वर्षा की पहली बूंद से लेकर फसल के पकने तक, हर चरण में जीवन का एक नया रंग जुड़ता जाता है।

लोकगीतों की यह सहज धारा पीढ़ियों से बहती रही है। कहीं सोहर की मधुर लय है, कहीं कजरी की विरह भरी तान, तो कहीं चैती के स्वर में जीवन की लय सुनाई देती है– "घर–घर बाजत बधइया हो रामा, अवध नगरिया..."। इन गीतों में केवल संगीत नहीं, अपितु जीवन की धड़कन सुनाई देती है। लोक संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सामूहिकता है। वह किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं होती; पीढ़ियों के अनुभव और संवेदनाएँ मिलकर उसे आकार देती हैं। लोक कथाएँ, कहावतें और मुहावरे जीवन के उन सरल सूत्रों को सामने लाते हैं जो लंबे अनुभव से छनकर आए होते हैं।

मेरे अपने जीवन की स्मृतियाँ भी इसी लोक संसार से जुड़ी रही हैं। उत्तर प्रदेश के कुशीनगर जनपद की उस धरती से मेरा जन्म–संबंध है जहाँ गांवों का जीवन आज भी अपनी सहजता और आत्मीयता के साथ धड़कता है। पिताजी का ननिहाल तुलसीपट्टी में था और हमारा पैतृक गांव बेदूपार। दोनों के बीच लगभग तीन किलोमीटर की दूरी। बचपन में गांव के प्राथमिक विद्यालय में बोरा और पटरी लेकर पहली बार पढ़ने जाना और उस सहज वातावरण में शिक्षा की शुरुआत... ये स्मृतियाँ आज भी मन में ताज़ा हैं। आगे चलकर पढ़ाई के लिए लगभग सोलह किलोमीटर दूर तमकुही रोड कस्बे तक जाना पड़ा। इस तरह बचपन का एक हिस्सा गांव की मिट्टी में और दूसरा कस्बे के परिवेश में बीता। इन अनुभवों ने जीवन को एक व्यापक दृष्टि दी। एक ओर गांव का सहज और प्रकृति के निकट जीवन था, तो दूसरी ओर कस्बे के माध्यम से आधुनिकता के नए संकेत दिखाई देने लगे। अपितु यह आधुनिकता लोक जीवन से पूर्णतः अलग नहीं थी; वह धीरे–धीरे उसी में घुलती–मिलती चली गई। शायद इसी कारण जीवन के प्रति एक संतुलित दृष्टि विकसित हो सकी, एक ऐसी दृष्टि जिसमें परंपरा और परिवर्तन दोनों के प्रति सम्मान का भाव है।

आज जब हम अपने समाज को देखते हैं तो अक्सर एक वाक्य सुनने को मिलता है– "इण्डिया शहरों में बसता है और भारत गांवों में।" यह केवल

एक कथन नहीं अपितु हमारे समय की एक गहरी सच्चाई का संकेत भी है। शहरों का जीवन सुविधाओं और संभावनाओं से भरा हुआ है, पर कई बार उसमें एक प्रकार की कृत्रिमता भी दिखाई देती है। इसके विपरीत गांवों में जीवन की गति धीमी होते हुए भी उसमें संबंधों की आत्मीयता और सामूहिकता की गरमाहट आज भी महसूस होती है। यह कहना भी उचित होगा कि आज गांव और शहर के बीच की दूरी कम होती जा रही है। दोनों एक–दूसरे से सीख रहे हैं, बदल रहे हैं और एक नए सामाजिक रूप का निर्माण कर रहे हैं।

भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में भक्ति का रंग भी अत्यंत गहरा और मोहक रहा है। श्रीकृष्ण का सांवरा रूप इसी प्रेम और माधुर्य का प्रतीक है। जब भक्त कहता है– "सांवरे के रंग रांची..." तो वह केवल किसी रूप या रंग की बात नहीं करता अपितु उस आध्यात्मिक अनुभव की बात करता है जिसमें मन पूरी तरह भीग जाता है। यह वह रंग है जो मनुष्य के भीतर करुणा, स्नेह और समर्पण की धारा बहा देता है। किन्तु संसार केवल इन उजले और मधुर रंगों से ही नहीं बना। यहाँ ऐसे रंग भी हैं जो अवसर और परिस्थिति के साथ बदलते रहते हैं। गिरगिट की तरह बदलते इन रंगों में स्वार्थ और आडंबर की छाया दिखाई देती है। समाज में ऐसे लोग भी मिलते हैं जिनके व्यवहार का रंग समय के साथ बदलता रहता है। यही प्रश्न संत कबीर ने भी उठाया था। उन्होंने कहा– "मन न रंगाए, रंगाए जोगी कपड़ा।" कबीर का आशय स्पष्ट है कि यदि मन ही निर्मल और सच्चे भावों से नहीं रंगा, तो बाहरी आडंबर का कोई अर्थ नहीं। वस्त्र, वेश या प्रदर्शन का रंग क्षणिक है; असली रंग वह है जो भीतर उतरकर मनुष्य के विचार और व्यवहार को बदल दे।

भारतीय लोक जीवन के विविध पर्व भी इसी जीवन–दर्शन को अभिव्यक्त करते हैं। ऋतुओं के साथ आने वाले ये पर्व केवल अनुष्ठान ही नहीं होते अपितु सामूहिक जीवन के उत्सव भी होते हैं। इनमें प्रकृति के प्रति कृतज्ञता, समाज के प्रति आत्मीयता और जीवन के प्रति उल्लास झलकता है। होली के रंगों में जहां उल्लास और मिलन का भाव है, वहीं दीपावली के दीपों में आशा और प्रकाश का संदेश निहित है। नवरात्रि के दिनों में भक्ति और शक्ति का संगम दिखाई देता है, तो मकर संक्रांति में प्रकृति के परिवर्तन का उत्सव मनाया जाता है। सावन–भादों के झूले, विभिन्न व्रत की कथाएँ, पूजन परम्परा... ये सभी लोक जीवन के ऐसे रंग हैं जो जीवन को उत्सव में बदल देते हैं।

आज के बदलते समय में जब जीवन की गति तेज और संबंधों की ऊष्मा कभी–कभी कम होती दिखाई देती है तब इन लोक रंगों को सहेजना और भी आवश्यक हो जाता है। क्योंकि यही रंग हमें हमारी जड़ों से जोड़ते हैं और यह स्मरण कराते हैं कि मनुष्य के जीवन में सबसे सुंदर और स्थायी रंग वही है जो प्रेम, विश्वास और आत्मीयता से जन्म लेता है।